भारतीय ज्ञान परंपरा

संस्कृति, दर्शन, शैक्षिक विचारधाराएँ और नवाचार

सम्पादक :
डॉ. दिनेश चन्द्र शर्मा

भारतीय ज्ञान परंपरा :

संस्कृति, दर्शन, शिक्षा विचारधाराएँ और नवाचार

सम्पादक :

डॉ. दिनेश चन्द्र शर्मा

Ph.D., D.Lit. (Sub.)

निदेशक, कॉम्पिटिशन प्लस ग्रुप ऑफ इन्स्टीट्यूशन,

अजमेर

छवि पब्लिकेशन्स

अजमेर-305001

प्रकाशक :
छवि पब्लिकेशन्स
अजमेर-305001
मो. 9660111549

संस्करण :
प्रथम 2022-2023

ISBN : 978 - 81 - 89435 - 64 - 6

मूल्य - 300/-

रचना - भारतीय ज्ञान परम्परा में शिक्षा के समाजशास्त्रीय आधार

सम्पादक - डॉ. दिनेश चन्द्र शर्मा

मुद्रक - श्रीनिवास प्रिन्टोग्राफिक्स, अजमेर

24. भारतीय सामाजिक संगठन

कजोड्मल रेगर
सहायक आचार्य (शिक्षा विभाग)
हुकुमचन्द नोबेल इंस्टीट्यूट ऑफ साईंस एण्ड टेक्नोलॉजी, अजमेर

भारतीय समाज प्राचीन काल से ही सुव्यवस्थित और अनुशासित रहा है। प्रत्येक व्यक्ति का समाज में कर्तव्य, अधिकार और जिम्मेदारी स्पष्ट रूप से निर्धारित थी। प्राचीन भारत में सामाजिक जीवन का आधार था धर्म, न्याय, शिक्षा और नैतिकता। समाज का उद्देश्य केवल अस्तित्व नहीं था, बल्कि व्यक्ति और समाज का संपूर्ण विकास सुनिश्चित करना था।

सामाजिक संगठन का मूल आधार था वर्ण और आश्रम व्यवस्था, जो व्यक्ति और समाज के संतुलन, अनुशासन और विकास का मार्गदर्शन करती थी। यह व्यवस्था जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अनुभवात्मक शिक्षा, नैतिकता और सामाजिक जिम्मेदारी का मार्गदर्शन करती थी।

वर्ण और आश्रम व्यवस्था का मूल उद्देश्य था कि समाज में प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्तव्य, नैतिकता और अधिकारों के अनुसार जीवन व्यतीत करे। इसके माध्यम से समाज में अनुशासन, न्याय और सामूहिक कल्याण सुनिश्चित होता है।

वर्ण व्यवस्था

भारतीय समाज का आधार वर्णं व्यवस्था है। प्राचीन भारत में समाज को सुव्यवस्थित और संतुलित बनाने के लिए यह व्यवस्था लागू की गई थी। वर्णं व्यवस्था केवल समाज के वर्गीकरण का साधन नहीं थी, बल्कि यह प्रत्येक व्यक्ति के जीवन, कर्तंव्य, शिक्षा और समाज में योगदान का मार्गंदर्शंन करती थी।

वर्णं व्यवस्था के अनुसार समाज को चार मुख्य वर्गों में बाँटा गया: ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। प्रत्येक वर्ग के कर्तव्य, अधिकार और सामाजिक जिम्मेदारी निर्धारित थे। यह व्यवस्था व्यक्ति और समाज के संतुलन के लिए आवश्यक थी।

वर्ण व्यवस्था में शिक्षा, नैतिकता और जीवनोपयोगिता का विशेष महत्व था। प्रत्येक व्यक्ति अपने वर्ग के अनुसार शिक्षा प्राप्त करता और समाज के विकास में योगदान देता।

ब्राह्मण वर्ग :- ब्राह्मण वर्ग का मुख्य कार्य था ज्ञान, शिक्षा, धर्म और यज्ञ।

ब्राह्मण समाज में गुरु, शिक्षक और पुरोहित के रूप में प्रतिष्ठित थे। उनका उद्देश्य केवल विद्या अर्जन नहीं, बल्कि समाज में नैतिकता और न्याय स्थापित करना भी था। ब्राह्मण जीवन चार आश्रमों में विभाजित था- ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास। ब्रह्मचर्य आश्रम में शिक्षा और चरित्र निर्माण, गृहस्थ आश्रम में परिवार और सामाजिक कर्तव्य, वानप्रस्थ में साधना और समाज सेवा, और संन्यास आश्रम में मोक्ष और आत्मज्ञान की प्राप्ति होती थी।

ब्राह्मण वर्ग में शिक्षा केवल शास्त्रों तक सीमित नहीं थी। इसमें जीवनोपयोगी शिक्षा, यज्ञकर्म, सामाजिक सेवा और नैतिकता का प्रशिक्षण भी शामिल था। वे समाज में मार्गदर्शक और शिक्षक के रूप में कार्य करते थे।

उदाहरण के लिए, ऋग्वेद और उपनिषदों में ब्राह्मण वर्ग की शिक्षा और धर्म में निपुणता का विशेष वर्णन मिलता है। ब्राह्मण स्त्री और पुरुष दोनों को समाज और धर्म की सेवा के लिए प्रशिक्षित किया जाता था।

क्षत्रिय वर्ग :- क्षत्रियों का कर्तव्य था राज्य, प्रशासन और सुरक्षा। वे राजा, सेनापति और प्रशासनिक अधिकारी के रूप में समाज की रक्षा करते थे। क्षत्रियों की शिक्षा में युद्धनीति, प्रशासनिक कौशल और नेतृत्व शामिल था। क्षत्रिय वर्ग केवल शक्ति प्राप्ति के लिए नहीं थे। उनका कर्तव्य समाज में सुरक्षा, न्याय और संतुलन बनाए रखना था। उपनिषदों और धर्मशास्त्रों में वर्णित है कि क्षत्रिय पुरुष को राज्य और समाज की सुरक्षा के लिए संपूर्ण जीवन कर्तव्यनिष्ठ होना चाहिए।

क्षत्रियों के जीवन में परिवार, विवाह और राजवंश की निरंतरता का विशेष महत्व था। विवाह केवल व्यक्तिगत संबंध नहीं, बल्कि सामाजिक और राजनीतिक जिम्मेदारी का साधन था।

वैश्य वर्ग :- वैश्य वर्ग समाज की आर्थिक संरचना का आधार था। उनका कार्य था व्यापार, कृषि और संपत्ति प्रबंधन। वैश्य वर्ग के व्यक्ति समाज की आर्थिक समृद्धि सुनिश्चित करते थे। वैश्य वर्ग की शिक्षा में व्यापार नीति, कृषि विज्ञान और आर्थिक व्यवहार शामिल था। वे समाज में आर्थिक विकास और स्थिरता के मुख्य स्तंभ थे। उनके बिना समाज का आर्थिक संतुलन असंभव था।

वैश्य वर्ग के परिवार में स्त्री और पुरुष दोनों आर्थिक गतिविधियों में योगदान करते थे। उपनिषदों और धर्मशास्त्रों में वैश्य वर्ग की आर्थिक जिम्मेदारी और समाज सेवा का विशेष उल्लेख है।

शूद्र वर्ग :- शूद्र वर्ग समाज के अन्य वर्गों के लिए सेवा और श्रम करता था। उनका कर्तव्य था दैनिक कार्य, समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति और अन्य वर्गों की सहायता। शूद्र वर्ग समाज का आधार था। शूद्र वर्ग की शिक्षा मुख्यत: व्यवहारिक और

सेवा-कौशल पर आधारित थी। उनके बिना समाज का संचालन असंभव था। वे समाज और अन्य वर्गों के संतुलन और सामूहिक कल्याण में अनिवार्य भूमिका निभाते थे।

धर्मशास्त्रों में शूद्र वर्ग की भूमिका केवल सेवा तक सीमित नहीं, बल्कि समाज में अनुशासन और संतुलन बनाए रखने का माध्यम भी बताया गया है।

वर्ण व्यवस्था समाज में अनुशासन, न्याय, संतुलन और विकास सुनिश्चित करती थी। प्रत्येक वर्ग अपने कर्तव्यों का पालन करता और समाज में सामूहिक कल्याण सुनिश्चित करता था।

आज भी वर्ण व्यवस्था के सिद्धांत शिक्षा, परिवार और समाज में लागू किए जा सकते हैं। समाज के प्रत्येक सदस्य के कर्तव्य और जिम्मेदारी स्पष्ट होने चाहिए।

आश्रम व्यवस्था

भारतीय संस्कृति में मानव जीवन को अत्यंत पवित्र और अर्थपूर्ण माना गया है। यहाँ जीवन केवल जन्म और मृत्यु के बीच की एक यात्रा नहीं, बल्कि एक महान साधना है जिसमें व्यक्ति आत्मा, समाज और परमात्मा के प्रति अपने दायित्वों को निभाता हुआ क्रमशः उन्नति के पथ पर चलता है। इसी क्रमिक और अनुशासित जीवन-पद्धति को भारतीय मनीषियों ने आश्रम व्यवस्था कहा।

आश्रम व्यवस्था भारतीय समाज के नैतिक, धार्मिक और शैक्षिक मूल्यों का एक ऐसा स्तंभ है, जिसने न केवल व्यक्ति के जीवन को अनुशासन और उद्देश्य प्रदान किया, बल्कि समाज में स्थायित्व और संतुलन भी स्थापित किया।

'आश्रम' शब्द 'श्र' धातु से बना है, जिसका अर्थ है — 'कर्म करना' या 'प्रयास करना'। इस प्रकार आश्रम का तात्पर्य है — जीवन के प्रत्येक चरण में उचित कर्म करना। वैदिक दृष्टि में यह माना गया कि मनुष्य का जीवन चार चरणों में विभाजित होना चाहिए — ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास। इन चारों चरणों में व्यक्ति अपने-अपने कर्तव्यों का पालन कर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि करता है।

मनुस्मृति में कहा गया है — 'अश्रमैः क्रियते धर्मो नान्यथा श्रेयसः पथः। अर्थात् आश्रमों के पालन से ही धर्म की प्राप्ति होती है, अन्यथा नहीं।

आश्रम व्यवस्था की जड़ें वेदों और उपनिषदों तक जाती हैं। ऋग्वेद में ब्रह्मचर्य का उल्लेख मिलता है, जहाँ कहा गया है — 'ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृतत्वमायन्।' अर्थात देवताओं ने भी ब्रह्मचर्य और तप के द्वारा अमरत्व प्राप्त किया।

वेदकाल में यह व्यवस्था प्रारंभ में केवल शिक्षण और तपस्वी जीवन तक सीमित थी, किंतु कालांतर में धर्मसूत्रों और स्मृतियों के माध्यम से इसे समाज के प्रत्येक व्यक्ति के जीवन के लिए अनिवार्य माना गया। मनु, याज्ञवल्क्य, आपस्तंब, और गौतम जैसे आचार्यों ने इस व्यवस्था के नियमों को विस्तार से समझाया।

महाभारत में कहा गया है — 'चतुर्विधं जीवनं प्रोक्तं मुनिभिः स्वार्थसिद्धये।' अर्थात जीवन के चार आश्रम व्यक्ति की आत्मोन्नति के लिए निधाज़रित किए गए हैं।

आश्रम व्यवस्था के द्वारा यह सुनिश्चित किया गया कि व्यक्ति का जीवन केवल सांसारिक न रहकर आध्यात्मिक भी बने। वह जन्म से मृत्यु तक कर्म, धर्म और ज्ञान के समन्वय से अपनी आत्मा को शुद्ध करता हुआ परम सत्य की ओर अग्रसर हो।

(1) ब्रह्मचर्य आश्रम :- मानव जीवन का प्रथम चरण ब्रह्मचर्य कहा गया है। यह जीवन का शिक्षा और संस्कार काल है। यहाँ 'ब्रह्मचर्य' का अर्थ केवल काम-व्रत नहीं, बल्कि समग्र रूप से अनुशासित जीवन है। ब्रह्म का अर्थ है सर्वोच्च ज्ञान और 'चर्य' का अर्थ है आचरण। इस प्रकार ब्रह्मचर्य का अर्थ है — ब्रह्म में स्थित होकर चलना।

प्राचीन काल में बालक का उपनयन संस्कार होने के बाद उसे गुरुकुल भेजा जाता था। वहाँ वह अपने गुरु के सान्निध्य में रहकर वेद, वेदांग, शास्त्र, गणित, नीतिशास्त्र, आयुर्वेद आदि का अध्ययन करता था। शिक्षा केवल पुस्तकीय नहीं थी, बल्कि व्यवहारिक और चरित्र निर्माण पर आधारित थी। विद्यार्थी गुरु की सेवा करता, आत्मसंयम और विनम्रता का पालन करता था।

यजुर्वेद में कहा गया है — 'आचार्यः पूर्वरूपं शिष्यः पररूपम्।' अर्थात गुरु ज्ञान का स्रोत है और शिष्य उसका प्रतिबिंब।

इस काल में बालक को आत्मसंयम, सत्य, अहिंसा, दान, अध्ययन और आज्ञापालन जैसे गुण सिखाए जाते थे। ब्रह्मचर्य का पालन केवल गुरु की आज्ञा से नहीं, बल्कि आत्मिक श्रद्धा से किया जाता था। यही कारण है कि वैदिक युग के ब्रह्मचारी आगे चलकर महान ऋषि, राजर्षि और विद्वान बने।

(2) गृहस्थ आश्रम :- ब्रह्मचर्य के पश्चात जब व्यक्ति समाज और परिवार की जिम्मेदारी संभालने योग्य हो जाता है, तब वह गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करता है। यह आश्रम मानव जीवन का सबसे महत्वपूर्ण और सक्रिय चरण है। मनुस्मृति में कहा गया है — 'सर्वेषामपि चाश्रमाणां गृहस्थः प्रधान उच्यते।' अर्थात चारों आश्रमों में गृहस्थ प्रमुख है, क्योंकि वही अन्य आश्रमों को पोषण प्रदान करता है।

गृहस्थ आश्रम केवल विवाह या भोग का प्रतीक नहीं, बल्कि वह धर्म और अर्थ का संगम है। गृहस्थ का कार्य होता है — परिवार का पालन-पोषण, धर्म का पालन, अतिथि-सत्कार और समाज की सेवा। प्राचीन ग्रंथों में कहा गया है कि गृहस्थ को प्रतिदिन 'पंचमहायज्ञ' करने चाहिए — देवयज्ञ, पितृयज्ञ, ब्रह्मयज्ञ, अतिथियज्ञ और भूतयज्ञ। इससे उसका जीवन केवल निजी न रहकर सामाजिक और सार्वभौमिक बनता है।

गृहस्थ को अपने धन का उपयोग केवल भोग में नहीं, बल्कि दान और सेवा में करना चाहिए। महाभारत में कहा गया है कि 'गृहस्थो यः स्थितो धर्मे स तपस्वीति कथ्यते।' अर्थात जो गृहस्थ धर्मपूर्वक जीवन जीता है, वही तपस्वी कहलाता है।

गृहस्थ जीवन में संतुलन का विशेष महत्व था — न तो भोग में लिप्तता, न ही संन्यास का आडंबर। यह वह अवस्था थी जिसमें व्यक्ति समाज के बीच रहकर धर्म और कर्म का पालन करता था।

(3) वानप्रस्थ आश्रम :- जब व्यक्ति अपनी गृहस्थ जिम्मेदारियों का निर्वाह कर लेता था और उसके पुत्र परिवार की देखभाल करने लगते थे, तब वह वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करता था। 'वानप्रस्थ' का अर्थ है — वन की ओर गमन। यह जीवन का वह काल था जहाँ व्यक्ति सांसारिक जीवन से धीरे-धीरे विरक्त होकर आत्म-चिंतन, साधना और तप की ओर अग्रसर होता था।

वानप्रस्थ आश्रम त्याग का आरंभ है। इसमें व्यक्ति अपनी इंद्रियों पर नियंत्रण करता, साधु-संतों के साथ निवास करता और ध्यान-योग में समय व्यतीत करता। भोजन सादा होता, वाणी संयमित और मन निरासक्त ।

मनुस्मृति में कहा गया है —

'यदा पश्येत् स्वं शरीरं जरया ग्रस्तमात्मनः।

अपत्यस्य च संकल्पं गृहेष्वधिगतं तथा॥

तदा वनं समाश्रेत्।'

अर्थात जब शरीर वृद्ध हो जाए और पुत्र गृहस्थ बन जाए, तब वन की ओर प्रस्थान करना चाहिए।

वानप्रस्थ आश्रम का उद्देश्य आत्मा की तैयारी करना था ताकि व्यक्ति धीरे-धीरे भौतिक जीवन से ऊपर उठकर ब्रह्म की ओर चल सके। यहाँ से उसका मन संन्यास की दिशा में अग्रसर होता है।

(4) संन्यास आश्रम :- आश्रम व्यवस्था का अंतिम चरण है संन्यास। यह मानव जीवन की आध्यात्मिक पूर्णता का प्रतीक है। संन्यास का अर्थ है 'सर्वत्याग' अर्थात अहंकार, संपत्ति, परिवार और शरीर तक की आसक्ति का त्याग।

संन्यासी वह है जिसने संसार के सुख-दुख से ऊपर उठकर आत्मा और ब्रह्म के एकत्व का अनुभव कर लिया है। वह न किसी से द्वेष रखता है, न किसी से मोह।

मनुस्मृति में कहा गया है — 'सर्वभूतहिते रतः संन्यासी परमं पदम्।' अर्थात जो सब प्राणियों के हित में रत रहता है, वही संन्यासी है।

संन्यास आश्रम में व्यक्ति केवल ध्यान, आत्म-चिंतन और साधना में लीन रहता है। वह निंदा-प्रशंसा से परे, कर्म के बंधन से मुक्त होकर मोक्ष की प्राप्ति करता है।

उपनिषदों में कहा गया है — 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म।' जब व्यक्ति सब प्राणियों में एक ही ब्रह्म का दर्शन करता है, तभी वह सच्चा संन्यासी बनता है।

आश्रम व्यवस्था भारतीय दर्शन का व्यावहारिक रूप है। यहाँ जीवन को केवल सांसारिक दृष्टि से नहीं, बल्कि आध्यात्मिक साधना के रूप में देखा गया है। प्रत्येक आश्रम का संबंध एक-एक पुरुषार्थ से है — ब्रह्मचर्य धर्म की नींव रखता है, गृहस्थ अर्थ और काम की पूर्ति करता है, वानप्रस्थ और संन्यास मोक्ष की ओर ले जाते हैं।

इस प्रकार यह व्यवस्था व्यक्ति को धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों के समन्वय का मार्ग सिखाती है।

आश्रम व्यवस्था ने भारतीय समाज को नैतिकता और अनुशासन का ढाँचा प्रदान किया। प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन के चरण में कर्तव्यनिष्ठ रहा तो समाज में संतुलन और सौहार्द बना रहा। गृहस्थ वर्ग से समाज को भौतिक पोषण मिला, ब्रह्मचारी वर्ग से शिक्षा और नैतिकता, वानप्रस्थ वर्ग से साधना और तप का आदर्श, और संन्यासी वर्ग से त्याग और करुणा की प्रेरणा।

इस प्रकार आश्रम व्यवस्था ने व्यक्ति और समाज दोनों के कल्याण का मार्ग प्रशस्त किया।

यद्यपि आज समाज की संरचना बदल गई है, फिर भी आश्रम व्यवस्था के सिद्धांत आज भी उतने ही उपयोगी हैं। आधुनिक जीवन में ब्रह्मचर्य अनुशासन और आत्मसंयम का प्रतीक है, गृहस्थ आश्रम सामाजिक उत्तरदायित्व का केंद्र है, वानप्रस्थ मनोवैज्ञानिक संतुलन और सेवा का प्रतीक है, जबकि संन्यास आज के संदर्भ में आत्मशांति और करुणा का मागज़ है।

निष्कर्षत: आश्रम व्यवस्था भारतीय संस्कृति की एक महान देन है। यह न केवल व्यक्ति के जीवन को दिशा देती है, बल्कि समाज में नैतिकता, अनुशासन और सेवा की भावना भी उत्पन्न करती है। यह व्यवस्था बताती है कि मनुष्य का जीवन केवल भोग या त्याग में नहीं, बल्कि कर्तव्य और साधना के संतुलन में है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि आश्रम व्यवस्था भारतीय संस्कृति का नैतिक मेरुदंड है, जो व्यक्ति को आत्मा से समाज तक, और समाज से ब्रह्म तक की यात्रा का मार्ग दिखाती है।

❑❑❑